



कभी-कभार

SR अशोक वाजपेयी

लोकतंत्र में विश्वास

पिछले दिनों 'लोकतंत्र और साहित्य' पर एक बहस के दौरान एक क्षुब्ध युवती ने उठ कर यह टिप्पणी की कि लोकतंत्र पश्चिम में भी ज्यादातर विफल हो चुका है, भारत में वह सर्वसत्तावादी शक्तियों को सत्तारूढ़ कर रहा है; भारत में एक बड़ा हिस्सा लोकतंत्र की विफलता और उसमें विकसित शोषण आदि के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर रहा है तब भी हिंदी लेखकों का लोकतंत्र के प्रति मोह समझ में नहीं आता! आपत्ति में बल है: कभी धूमिल ने कहा था कि 'मुझे अपनी कविताओं के लिए दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है', और कई लेखक लोकतंत्र के अधूरेपन, अपर्याप्तता को लेकर साहित्य और उससे बाहर क्षुब्ध-उद्दिग्ग्न रहे हैं। मुश्किल यह नहीं है कि हम एक आधे-अधूरे और अपर्याप्त लोकतंत्र में भरोसा क्यों कर रहे हैं- मुश्किल यह है कि हमारे पास लोकतंत्र का विकल्प क्या है।

दशकों पहले पश्चिम के किसी राजनेता ने कहा था कि लोकतंत्र बहुत खराब व्यवस्था है, पर वही एकमात्र संभव व्यवस्था है। अन्य व्यवस्थाएँ, जिनमें क्रांतिकारी और समाजवादी व्यवस्थाएँ प्रमुख रूप से शामिल हैं, अधिक हिंसक, क्रूर, समाज-विरोधी साबित होकर इतिहास के गर्त में जा चुकी हैं। उनके मुकाबले लोकतंत्र अपनी सारी कमियों के बावजूद अधिक टिकाऊ, परिवर्तनशील और, कुल मिला कर, अधिक नागरिक और मानवीय सिद्ध हुआ है। उसमें अन्य व्यवस्थाओं की तुलना में कहीं अधिक संवाद और विवाद, संघर्ष और समझौतों, समन्वय और प्रतिरोध की संभावनाएँ लगातार बनी रहती हैं और स्वयं लोकतंत्र को ये सब पुष्ट, परिमार्जित और संवेदनशील बनाने में समर्थ होते हैं।

कोई और व्यवस्था ऐसी नहीं रही है, जिसमें स्वयं उस व्यवस्था के प्रति संदेह और अविश्वास को ऐसी निर्भीकता और मुखरता से वाणी दी जा सके। साहित्य प्रायः हर जगह लोकतंत्र में रह कर भी उसका प्रतिपक्ष बना रहता है। लोकतंत्र में इतना लचीलापन और सयानी समझ है कि वह साहित्य को ऐसी जगह दे पाता है। भारत में छह दशक से अधिक पुराने लोकतंत्र में ऐसे उदाहरण हैं, जिसमें असहिष्णुता, उन्माद आदि को बढ़ावा मिला है, लेकिन वे, कुल मिला कर, अपवाद ही हैं। चिंता की बात अब यह जरूर है कि पिछले कुछ वर्षों से ये अपवाद लगातार बढ़ते गए हैं और उनके अघोषित और अवैध पर कारगर नियम बन जाने की दुस्संभावना नजर आने लगी है।

ऐसी परिस्थिति में स्वयं लोकतांत्रिकता की चौकसी करने और उसके क्षरण या शिथिल पड़ने पर आवाज उठाने की जिम्मेदारी साहित्य पर आ पड़ती है। इस पर बहस हो सकती है कि साहित्य किस हद तक ऐसी चौकसी कर पा रहा है और स्वयं इस क्षरण में उसकी कितनी हिस्सेदारी है। सच तो यह है कि लोकतंत्र से मिली स्वतंत्रता का उपभोग करते हुए लेखक, कम से कम हमारे यहां, लोकतंत्र से तनाव की स्थिति में ही रहे हैं। उन्हें ऐसा रहने की सुविधा और मुक्ति लोकतंत्र देता रहा है। इसलिए उसमें विश्वास का आधार और कारण है। इसी द्वंद्वत्मकता के कारण साहित्य कुछ अर्थों में स्वयं दूसरा लोकतंत्र बन जाता है।

ग्वालियर में प्रेमकविता

आइटीएम विश्वविद्यालय ग्वालियर में एक ऐसा तकनीकी शिक्षा का परिसर है, जिसमें नियमित रूप से ललित कला के शिविर, शास्त्रीय संगीत और कविता आदि के समारोह होते रहते हैं: उनमें बड़ी संख्या में छात्र दर्शक-श्रोता की तरह आते हैं और नगर के साहित्य और कलाप्रेमी भी। अक्सर विश्वविद्यालय और नगर के बीच, अन्यत्र, संबंध शिथिल या तनाव का होता है। पर ग्वालियर में यह संबंध सांस्कृतिक है, यह अनोखी बात है। इस सबके पीछे सजग-संवेदनशील दृष्टि है पुराने राजनेता रमाशंकर सिंह की।

इस बार राममनोहर लोहिया सभागार में एक शाम विश्वविद्यालय के वार्षिक उर्दू कविता-आयोजन 'इबारत' का छठवाँ संस्करण प्रस्तुत हुआ, जो प्रेमकविता पर एकाग्र था और जिसमें शीन काफ़ निज़ाम जैसे प्रसिद्ध शायरों ने शिरकत की। 'इबारत' में हर बार किसी विषय पर विवेचन के लिए एक हिंदी कवि को आमंत्रित किया जाता है। पूरे भरे हुए सभागार में लोग और युवा न सिर्फ कविता का, पर उसके बारे में कुछ बौद्धिक विमर्श का भी रसास्वादन करते हैं।

सच तो यह है कि संसार से अनुराग के बिना कविता नहीं लिखी जा

सकती: सदियों से कविता और प्रेम का संग-साथ इतना घनिष्ठ रहा है कि कहा जा सकता है कि जिसने प्रेम नहीं किया वह जीवन क्या, जिसने कविता नहीं लिखी या लिखवा ली वह प्रेम क्या! दरअसल, प्रेम मृत्यु और प्रकृति के साथ कविता के स्थायी विषयों में से रहा है: शायद ही कोई बड़ा कवि हुआ हो, जिसने इस विषयवृत्ति को अपनी कविता में न साधा हो। अनेक प्राचीन कविता परंपराएँ, जिनमें, हमारी अपनी संस्कृत परंपरा शामिल है, मुख्यतः प्रेमकविता की परंपराएँ हैं: प्रेम उनमें से हटा दें तो बची कविता थोड़ी-बहुत मृत्यु, वीरता, प्रकृति और युद्ध के बारे में बच जाएगी।

प्रेम समावेशी भाव है: उसमें प्रतीक्षा, आकांक्षा, कामना, रति, विरह-मिलन, आकर्षण, सौंदर्य, लालित्य, ईर्ष्या, आशा-निराशा आदि सब सघनता और उत्कटता से शामिल होते हैं। प्रेम का बुनियादी अर्थ है- अपने को दूसरे में पाना, दूसरे को अपने में आत्मसात करना। एक ऐसे समय में जब हम इतनी सारी हिंसाओं से घिरे हैं और हमें समझ में नहीं आता कि हम 'दूसरों' का क्या करें, प्रेमकविता एक रास्ता सुझाती है, ऐसा रास्ता जिसमें दूसरा दूसरा न रह कर अपना हो जाता है, अपना हिस्सा हो जाता है। इसलिए प्रेमकविता का गहरा सामाजिक अर्थ होता है। वह एक तरह का राजनीतिक, बल्कि नैतिक हस्तक्षेप हो जाती है। स्वयं अपनी परंपरा में प्रेम की स्थिति को हम पर लाद दी गई विक्टोरियन नैतिकता और शिक्षा पद्धति ने बहुत गलत समझ और दुर्व्याख्या में उलझाया है। नतीजा यह है कि कम से कम आज की हिंदी कविता अपनी महान शृंगार-परंपरा से जाने-अजाने वंचित हो गई कविता है। उसमें ऐंद्रियता की भयावह हानि हुई है और एक तरह की आत्महीन सामाजिकता आतंक की तरह छा गई है।

यह याद किया जा सकता है कि कालिदास से लेकर सूरदास, मीरा, मीर, गालिब आदि और बाद में प्रसाद, निराला, अज्ञेय, शमशेर, फ़िराक, फ़ैज़, रघुवीर सहाय आदि हमारी प्रेमकविता के उजले नाम हैं। यह भी कि सारी आधुनिकता और उससे आए प्रबल विखंडनों के रहते बीसवीं शताब्दी के कई महाकवियों ने, जिन्हें चालू मुहावरे में क्रांतिकारी कवि भी कहा-माना जाता है, श्रेष्ठ प्रेमकविता लिखी है: रिल्के, यीट्स, पाब्लो नेरूदा, आक्तावियो पाज़, नाज़िम हिकमत, अन्ना आखूमोतोवा, मरीना स्वेटायेवा, पास्तरनाक, मलामें, ईव बोनफुआ आदि। सूची लंबी है। जैसे कि अंततः प्रेम अनंत है।

अंतस्संबंध की खोज

इस वर्ष रज़ा पुरस्कार से सम्मानित व्यक्तियों का आनंदग्राम में संपन्न वार्षिक शिविर कलाओं, कविता आदि के संवाद और सहकार पर एकाग्र था, जिसमें लगभग पंद्रह चित्रकारों, कवियों, शास्त्रीय संगीतकारों और नर्तकों ने भाग लिया। चार दिनों में फैली बातचीत में कई बातें उभरीं। हर कला की अपनी स्वायत्तता है, उसका आत्यंतिक सत्य उसी से व्यक्त हो सकता है और अपने आप में पूर्ण होता है। अगर वह किसी और कला के साथ संवाद या सहकार करती है, तो यह तभी सार्थक हो सकता है जब कलाओं की अपनी स्वायत्तता और आत्यंतिकता की रक्षा भी हो और ऐसा अर्थ उत्पन्न हो जो सिर्फ एक कला द्वारा नहीं, कलाओं के संवाद-सहकार द्वारा ही अर्जित किया जा सकता है। किसी भी कला की अपनी पहली और अनिवार्य उपस्थिति होती है: वह दूसरी उपस्थिति में बदलती है, जो कोई रसिक उससे प्रतिकृत होता है और उसके सच में थोड़ा-सा अपना सच मिलाता है। तीसरी उपस्थिति तब संभव होती है जब यह कला दूसरी कला के संपर्क और संबंध से कुछ करना चाहती है। इस तीसरी उपस्थिति में पहली दो उपस्थितियाँ भी अंतर्ध्वनित होती हैं, पर प्राथमिकता तीसरी उपस्थिति की होती है।

कुछ को लगा कि जब हर कला अपने आप में पर्याप्त और स्वायत्त है तो उसे किसी अन्य कला के साथ मिल कर कुछ और करने की जरूरत क्या है? एक स्तर पर यह सही है और ऐसे प्रयोगों की कोई दरकार नहीं है। दूसरी ओर, हमारी अपनी परंपरा का साक्ष्य और पश्चिमी आधुनिकता का इतिहास हमें बताता है कि अंतस्संबंध और संवाद-सहकार ने नई सार्थकता अर्जित की है। आज तो हालत यह है कि कलाओं और साहित्य के बीच बहुत क्षीण संवाद होता है- उनके बीच मुंहबोला तक नहीं रह गया है। यह मत भी उभरा कि हालांकि हर कला की अपनी भाषा है और वह अपने लक्ष्य के लिए पर्याप्त होती है, इन सब भाषाओं के ऊपर एक अधिभाषा होती है, जिसे संवाद-सहकार उद्बुद्ध कर नई और अप्रत्याशित अर्थ-रचना कर सकते हैं- ऐसी अर्थरचना परंपरा और आधुनिकता दोनों में होती रही है।

शिविरार्थियों ने यह भी निश्चय किया कि वे अगले दो-तीन महीनों में विचार कर अंतस्संबंध के ऐसे प्रोजेक्ट प्रस्तावित करेंगे। अगले शिविर में हर शिविरार्थी अपनी कला से अलग किसी और कला के किसी मूर्धन्य या कलाकृति पर अपने विचार व्यक्त करेगा। सभी लोग मिल कर कलाओं और साहित्य पर विचार और विश्लेषण करने के लिए एक संयुक्त शब्दावली और सिद्धांत-व्यवस्था विकसित करने पर भी सहमत हुए हैं।